

क्या संहिताबद्ध हिंदू कानून ने जेंडर रिश्तों को बदला है?

सामाजिक विमर्श
1(1) 57-72
© 2018 CSD and
SAGE Publications
sagepub.in/home.nav
DOI: 10.1177/2581654318797830
http://smv.sagepub.in



फ्लेविया एग्निस्¹

अनुवाद: नासिरुद्दीन हैदर खाँ²

सार

भारत में एक बार फिर समान नागरिक संहिता बनाने की चर्चा जोरों पर है और कहा जा रहा है कि संहिताबद्ध हिंदू कानून को इसका आधार बनाया जाना चाहिए। इस आलेख में इस बात की पड़ताल है कि हिंदू कोड के लागू होने से जेंडर संबंधों में क्या कोई बदलाव आया है? हिंदू कोड बनाने के दौरान बहस के केंद्र में क्या मुद्दे थे? इस कानून पर सहमति जुटाने के लिए किस तरह के समझौते किए गए? हिंदू कोड बिल के पास होने के बाद पिछले छह दशकों में इन कानूनों ने वास्तविकता में कैसे काम किया? क्या संहिताबद्ध हिंदू कानूनों ने उस समय की असरदार ब्राह्मणवादी पितृसत्ता को चुनौती दी और सामाजिक बदलाव में कोई भूमिका अदा की? हमारा सोच है कि इस कानून के प्रभावी होने के बाद भी आज हिंदू समाज में स्त्री-विरोधी पूर्वाग्रह कायम हैं। हिंदू कोड बिल अपने उद्देश्यों को पूरा करने में नाकाम रहा है। कानून महिलाओं को वे अधिकार नहीं दिला पाया जो अन्य धर्मों की महिलाओं, विशेषतः मुस्लिम महिलाओं को हासिल हैं। मसलन, न तो हिंदू औरतों के लिए तलाक़ को आसान बना पाया, न बाल विवाह रोक पाया, और न ही दहेज पर अंकुश लगा पाया। अतः हिंदू कोड समान नागरिक संहिता का आधार नहीं बन सकता।

कुंजी शब्द

समान नागरिक संहिता, हिंदू कोड बिल, महिला अधिकार, मुस्लिम निजी कानून, बाल विवाह, पितृसत्ता

हिंदू कोड बिल के लागू होने से जेंडर संबंधों में बदलाव आया है या नहीं, इसकी जाँच करने के दौरान हमें सबसे पहले इन कानूनों को बनाते समय बहस के केंद्र में जो मुद्दे थे उन्हें देखने की आवश्यकता है। इसके लिए किस तरह के समझौते किए गए, यह समझने की ज़रूरत है। इसके बाद यह भी देखने की ज़रूरत है कि पिछले छह दशकों में इन कानूनों ने हकीकत में कैसे काम किया। तब हम आखिर में देखेंगे कि कैसे इन कानूनों में आज भी हिंदू सांस्कृतिक मूल्य के रूप में स्त्री-विरोधी पूर्वाग्रह बने हुए हैं। हमें यह भी समझना

यह आलेख 15 जुलाई 2016 को काउंसिल फ़ॉर सोशल डेवलपमेंट और इंडिया इंटरनेशनल सेंटर द्वारा आयोजित 25वें दुर्गाबाई देशमुख स्मृति व्याख्यान के मज़मून पर आधारित है।

¹ प्रख्यात नारीवादी अधिवक्ता और मजलिस केंद्र की संस्थापक, मुंबई, ईमेल : flaviaagnes@gmail.com

² वरिष्ठ पत्रकार और जेंडर मुद्दों पर स्वतंत्र लेखन, लखनऊ, ईमेल : nasiruddinhk@gmail.com

होगा कि कैसे ये मूल्य महिलाओं के अधिकारों पर उलटा असर डाल रहे हैं। हमें यह देखना होगा कि क्या संहिताबद्ध हिंदू कानूनों ने उस समय की असरदार ब्राह्मणवादी पितृसत्ता को चुनौती देते हुये सामाजिक बदलाव में किस प्रकार की भूमिका अदा की?

ऐतिहासिक संदर्भ

वर्ष 1950 में हमने अपना एक संविधान तैयार किया। इसके तहत बराबरी और हर तरह के भेदभाव के निषेध को मूल अधिकार के रूप में अनिवार्य बनाया गया। ये वे मूल्य थे, जिन पर किसी भी तरह का समझौता मुमकिन नहीं था। यही नहीं, इसके द्वारा लिंग, जाति और धर्म से परे सभी नागरिकों के मानव अधिकारों की रक्षा की गई। और इसके पाँच साल के अंदर ही हमने सिर्फ हिंदुओं के लिए एक कोड (संहिता) तैयार कर उस आदेश का उल्लंघन कर दिया जो धर्म के आधार पर किसी तरह के भेदभाव को रोकता है। प्रश्न है, उस वक्त हिंदू कानून में सुधार के एजेंडे का राजनीतिक निहितार्थ या फायदा क्या था? इस मुद्दे पर बहुत लिखा गया है परन्तु इस लेख में को कुछ खास मुद्दों पर ही केंद्रित रखने की कोशिश की गई है।

आजादी के समय हिंदू महिलाएँ, अधिकारों के मामले में दूसरे धर्म की महिलाओं की अपेक्षा बहुत पीछे थीं। खास तौर पर, दो अधिकार हिंदू महिलाओं के पास नहीं थे। वे थे, तलाक़ और विरासत का अधिकार। इसलिए हिंदुओं के मामले में सुधार का इंतज़ार करना मुश्किल था जब तक सभी धर्मों के माननेवालों के लिए यूनिफ़ॉर्म सिविल कोड (यूसीसी – समान नागरिक संहिता) बनाने पर सहमति न बन जाए। ध्यान रहे, संविधान के अनुच्छेद 44 के तहत यूनिफ़ॉर्म सिविल कोड बनाने की बात की गई है।

इन कानूनों को बनाने के मामले में की गई हड़बड़ी को देखते हुए ऐसा मान लेना मुमकिन है कि बहुसंख्यकों के लिए जेंडर समानता के विचार पर आधारित इस कोड को लागू करने की पूरी प्रक्रिया निहायत आसान और तेज़ रही होगी। यही नहीं, यह भी आसानी से मान लिया जाएगा कि इस उद्देश्य में पूरा राष्ट्रवादी नेतृत्व (मुख्यरूप से हिंदू) संगठित रहा होगा। परन्तु अफ़सोस, ऐसा था नहीं। यह एक लंबी और बेहद विवादास्पद प्रक्रिया साबित हुई। इसे पूरा होने में 15 साल लग गए। एक विशिष्ट प्रकार के राष्ट्रवादी नेताओं ने सुधारों का ज़बरदस्त विरोध किया। वे हिंदू कानून में तलाक़ के विचार का विरोध कर रहे थे, क्योंकि उनका मानना था कि हिंदू विवाह सात जन्मों (जन्म-जन्मांतर) का अटूट पवित्र बंधन है। दूसरी ओर, वे बेटियों को संपत्ति में बराबर की हिस्सेदारी देने की खिलाफ़त कर रहे थे क्योंकि यह कदम बेटियों को पराया धन मानने की हिंदू मान्यताओं के खिलाफ़ था। उन्हें आशंका थी कि अगर हिंदू महिलाओं को तलाक़ और संपत्ति में विरासत का हक़ मिल गया तो उन पर यौनिक नियंत्रण का मज़बूत फंदा ढीला पड़ जाएगा। स्त्रियाँ 'बहक' जाएँगी। हिंदू सामाजिक तानाबाना छिन्न-भिन्न हो जाएगा।

सुधारों का विरोध करनेवालों में तत्कालीन राष्ट्रपति और संवैधानिक प्रमुख डॉ. राजेंद्र प्रसाद, कांग्रेस के वरिष्ठ नेता बी. पट्टाभि सीतारमैया, सरदार पटेल, पुरुषोत्तम दास टंडन सरीके लोग थे (Lateef, 1994, पृ. 51)। डॉ. राजेंद्र प्रसाद ने कहा कि अगर संपत्ति के मामले में हिंदू अविभाजित परिवार (एचयूएफ) के विचार को ख़त्म किया गया तो वे इस कोड पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे। उनका

मानना था कि इससे गाँवों की खेती की ज़मीन छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाएगी। प्रथम आम चुनाव में भारी बहुमत के बावजूद, सत्ताधारी कांग्रेस के भीतर जबरदस्त विरोध की वजह से प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू का रवैया दुलमुल था। आखिरकार, घोर निराशा में, सुधार के इस अभियान को हकीकत बनाने में लगे डॉ. भीमराव आंबेडकर ने इस्तीफ़ा दे दिया। इससे दबाव बना और जैसा शुरूआती तौर पर सोचा गया था, पारिवारिक रिश्तों को नियंत्रित करने वाले मुकम्मल हिंदू कोड की जगह अन्त में टुकड़ों-टुकड़ों में तैयार क़ानूनों का एक सेट लागू हुआ।³

यद्यपि, कहा तो यही गया कि यह सब क्रमदम स्त्रियों की मुक्ति के लिए उठाए जा रहे हैं लेकिन इनके पीछे एक गुप्त राजनीतिक एजेंडा भी था। जाति, पंथ और क्षेत्रों में बँटे सांस्कृतिक रूप से विविध और बहुलतावादी समाज को एक क़ानून के तहत लाने और पारिवारिक मामलों में क़ानून बनाने की ताक़त धार्मिक नेतृत्व से ले लेने की एक फ़ौरी ज़रूरत भी आन पड़ी थी (Parashar, 1992)। इसलिए, इन विधानों ने एक क़ानूनी कल्पनालोक तैयार किया। इसने बौद्धों, जैनों, सिखों, ब्रह्मसमाजियों, आर्य-समाजियों, प्रार्थनासमाजियों को 'हिंदू' के रूप में परिभाषित किया। (गौरतलब है, ये सभी औपनिवेशिक काल से पहले और उपनिवेश के दौर में अलग-अलग ऐतिहासिक काल खंडों में विभिन्न समाज सुधार आंदोलनों के ज़रिए हिंदू दायरे से अलग हो चुके थे)। इस तरह क़ानूनी हिंदूवाद (legal Hinduism) का बहुत व्यापक जाल बुना गया था। इससे कोई नहीं बच सकता था। नास्तिक भी नहीं।⁴

अगर दो हिंदू, सेक्यूलर विधान अर्थात् स्पेशल मैरिज एक्ट के तहत शादी करते हैं तब भी विरासत के मामले में इन पर हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम ही लागू होगा। ऐसा इसलिए किया गया ताकि हिंदू पुरुष, हिंदू संयुक्त परिवार का सदस्य होने के नाते मिले विशेषाधिकार से वंचित न हों। इसलिए, निरपेक्ष विधान के तहत शादी करने के बाद भी संयुक्त परिवार के नाम पर टैक्स में मिलने वाले उनके फ़ायदे को बचाया जा सके।⁵

अर्चना पाराशर का तर्क है कि हिंदुओं के लिए एक अलग कोड लागू करने का अर्थ पुरातन धार्मिक क़ानूनों या प्रचलित सामुदायिक प्रथाओं को छोड़ देना नहीं था। इसके बरअक्स, इन्हें अंग्रेज़ी क़ानून को आधार मानकर बनाए गए एक कोड के तहत समाहित कर लेना था। ऐसा करते समय यह भी स्थापित करना था कि अब स्वतन्त्र देश की सत्ता ही क़ानून बनाने की अधिकारी है। अब तक यह अधिकार अलग-अलग पंथों के धार्मिक प्रमुखों के हाथ में था (Parashar, 1992)।

इन विधानों के दायरे से केवल वे लोग छूटे, जिन्हें किताबिया धर्म का माननेवालों कहा जाता है, अर्थात् मुसलमान, इसाई, पारसी और यहूदी। ये किताबिया मज़हबी लोग अपने-अपने निजी क़ानूनों से संचालित होते थे।⁶

³ चार क़ानून जिन्हें मिलाकर हिंदुओं के लिए पारिवारिक क़ानून बने, वे हैं — द हिंदू मैरिज एक्ट 1955, द हिंदू सक्सेशन एक्ट 1956, द हिंदू माइनोंरिटी एंड गार्डियनशिप एक्ट 1956 और द हिंदू एडॉप्शन एंड मेनेटेनेंस एक्ट 1956।

⁴ हिंदू मैरिज एक्ट के अनुच्छेद 2 में दी गई परिभाषा देखें। इससे पता चलता है कि यह क़ानून किन पर लागू होगा। इसमें जाल काफ़ी व्यापक जाल बुना गया है। इसे ही मैं 'क़ानूनी हिंदूवाद' कहती रही हूँ। इसी तरह की परिभाषा उस समय बने सभी चारों विधानों में पाई जाती है।

⁵ इसे 1976 में विशेष विवाह क़ानून में एक संशोधन के द्वारा लागू किया गया।

⁶ विभिन्न आदिवासी समूहों को भी इन क़ानूनों के दायरे से बाहर रखा गया, और उन्हें अपनी पारंपरिक संस्थाओं के द्वारा अपने मामलों के संचालन की स्वीकृति दी गई।

तरक्की और विकास के लिए सुधारों ने आधुनिकता, संहिताबद्धता और एकीकरण जैसे मुख्य तत्त्वों को खास तौर पर आधार बनाया। इसलिए, केवल समानता के नाम पर स्त्रियों के हितकारी कई रीति-रिवाजों को नज़रअंदाज़ कर दिया गया (Derrett, 1999, पृ. 107)।

चूँकि, हिंदू क़ानूनों में सुधार की राह में ज़बरदस्त राजनीतिक बाधाएँ थीं, इसलिए इन रुकावटों के असर को कम करने के लिए कई संतुलनवाले काम करने पड़े। न्यूनतम सहमति पर पहुँचने के लिए महिलाओं को सशक्त करनेवाले कई अहम प्रावधानों की धार को लगातार कुंद किया गया। एक ओर सुधारों को महिलाओं के हक़ में प्रस्तुत किया गया, तो दूसरी ओर पुरुषों के विशेषाधिकारों की रक्षा की गई। एक ओर आधुनिकता को बुनियाद बनाया गया, तो दूसरी ओर प्राचीन ब्राह्मणवादी रीति-रिवाजों को बरकरार रखा गया। एक ओर समानता का दावा किया गया, तो दूसरी ओर अलग-अलग प्रथाओं और रिवाजों को मान्यता दी गई। सिर्फ़ ऐसी ही पैतरेबाज़ियों से हिंदू क़ानून में सुधार का लक्ष्य प्राप्त किया जा सका।

विधानों के पिटारे से क्या निकला

संहिताबद्ध क़ानून पितृसत्तात्मक विचारों का प्रतिबिंब और ब्राह्मणवादी प्रथाओं को मान्यता देने वाला था। दावों के बावजूद, वे एकरूपता या जेंडर समानता नहीं ला पाए। उन्होंने तो अलग-अलग पंथों, समुदायों और क्षेत्रों में प्रचलित विभिन्न रीति-रिवाजों को वैधानिक मान्यता देने मात्र का काम किया।

हिंदू विवाह अधिनियम का अनुच्छेद 5 बताता है कि हिंदू विवाह होने की क्या-क्या शर्तें हैं, और अनुच्छेद 7 बताता है कि वैध हिंदू शादी होने के लिए क्या विधि-विधान किए जाएँगे। इनके अनुसार, विवाह, होम, सप्तपदी और कन्यादान⁷-जैसी ब्राह्मणवादी प्रथाओं को शादी के ज़रूरी विधि-विधान मानने के साथ ही रीति-रिवाजों और प्रथाओं को भी मान्यता दी गई।

एक ओर इस क़ानून का अनुच्छेद 13 न्यायिक तलाक़ का प्रावधान प्रदान करता है, तो दूसरी ओर अनुच्छेद 29(2) तलाक़ के परंपरागत तरीकों को भी मान्यता देता है। अनुच्छेद 8 के तहत विवाह को रजिस्टर करने का प्रावधान वैकल्पिक है। इसीलिए, क़ानून के संहिताबद्ध होने के उपरान्त, किसी हिंदू को विवाह करने या उसे तोड़ने के लिए किसी सरकारी ढाँचे के तहत जाने की ज़रूरत नहीं है। विवाह करने या तोड़ने के प्रतिमान यह वर्तमान ग़ैर-संहिताबद्ध मुस्लिम विधि से बहुत अलग नहीं है। अर्थात्, केवल बहुलतावादी हिंदू समाज की ढेरसारी प्रथाओं को बरकरार रखकर ही क़ानूनी सुधार की गाड़ी आगे बढ़ाई जा सकी।

लेकिन, इन कमियों के बावजूद इन सुधारों को आधुनिक, निरपेक्ष, जेंडर बराबरीवाला और समान क़ानून का आधार बताया गया। इसलिए, यह देखना दिलचस्प होगा कि आनेवाले वर्षों में ये क़ानून ज़मीन पर किस रूप में दिखाई देंगे।

⁷ एक ऐसी प्रथा जो इस सोच को पुख्ता करती है कि औरत संपत्ति है, जिसे पिता उसके पति के हवाले कर देता है।

विरोधाभास और सीमायें

एक ओर, हिंदू विवाह अधिनियम ने एक समय में एक ही पत्नी के विचार को स्थापित किया, विवाह की न्यूनतम उम्र तय कर बाल विवाह पर रोक लगाई, और आपसी रज़ामंदी की बात कर करार या समझौते के विचार को जगह दी। दूसरी ओर, अधिनियम ने हिंदू विवाह को पवित्र माननेवाले पहलू को भी बरकरार रखा। जेंडर समानता के विचार के आधार पर औरतों को तलाक़ का हक़ दिया। साथ ही, क्रूरता, छोड़ देने या दूसरी शादी या इसी तरह के अन्य हालात में वैवाहिक जिंदगी से निकलने के उपाय भी तय किए। भरण-पोषण और पुरुषों और स्त्रियों दोनों को बच्चे का संरक्षक बनने की राहत भी दी। यद्यपि, सामाजिक धरातल पर शादी के रिश्ते में मर्दों और स्त्रियों की भूमिकाएँ और जिम्मेदारियाँ काफ़ी हद तक अलग-अलग बनी रहीं। ये भूमिकाएँ और जिम्मेदारियाँ जेंडर आधारित थीं।

विवाह के बाद संकलित की गई संपत्ति का तलाक़ के समय बँटवारे का विचार ही अस्तित्व में नहीं था। इसलिए तलाक़ के बाद महिला के आर्थिक अधिकार सिर्फ़ मामूली भरण-पोषण तक सीमित थे। यहाँ तक कि इस प्रावधान में भी यौनिक शुद्धता की चेतावनी निहित थी। अगर पति ने व्यभिचार या विवाहोत्तर संबंध का आरोप लगाया और कोर्ट ने इसे मान लिया तो महिला को इस मामूली भरण-पोषण की राशि के अधिकार से भी हाथ धोना पड़ सकता था। इसलिए, अधिकतर मामलों में महिलाओं के लिए तलाक़ का विकल्प चुनने का अर्थ था गरीबी और बेबसी को चुनना।

हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम के अनुसार, किसी विधवा को विरासत में मिली संपत्ति, पूरी तरह उसकी जायदाद होती है। पुनर्विवाह के बाद यह संपत्ति वापस ली जा सकती है। बेटियों को माता-पिता की खुद अर्जित संपत्ति में भी विरासत का सीमित अधिकार दिया गया। इसके अतिरिक्त, इस अधिनियम में वसीयत के ज़रिए उत्तराधिकार का विचार पेश किया गया। इसके द्वारा कानूनी उत्तराधिकारी को दरकिनार कर संपत्ति किसी अन्य व्यक्ति को वसीयत की जा सकती है। इस प्रावधान का तात्पर्य होता है कि बेटियों को माँ-बाप की अर्जित संपत्ति में उनके हिस्से से महरूम करना। चूँकि महिलाएँ हिंदू सहदायिकी (coparcenary) में शामिल नहीं थीं, इसलिए विरासत के समान अधिकार का विचार ही छलावा था। लगातार संघर्ष के बाद 2005 में हिंदू उत्तराधिकार अधिनियम में संशोधन हुआ। महिलाओं के साथ हो रही इस बड़ी नाइंसाफ़ी को सुधारा गया, और उन्हें पुरुषों की जायदाद में बराबर की हिस्सेदारी का हक़ मिला। यद्यपि, यह एक बड़ा अहम क़दम है, लेकिन अभी भी यह दिखावा भर ही है। आज भी पुरुष रिश्तेदारों के हाथों में ही संपत्ति सिमटी हुई है।

हिंदू संयुक्त परिवार की संपत्ति का प्रावधान अब तक बरकरार है। इसके द्वारा केवल हिंदुओं को विशेष दर्जा मिला हुआ है, और इसकी वजह से उन्हें कर में ख़ास छूट मिलती है। यह बाक़ी सभी धार्मिक अल्पसंख्यकों के साथ भेदभाव है। हालाँकि, यह मुद्दा शायद ही कभी 'हिंदू' विशेषाधिकार के रूप में सार्वजनिक बहस के केंद्र में रहा है।

समझौतों और कमियों के बावजूद, यह भ्रांति आज भी बनी हुई है कि हिंदुओं ने अपने निजी कानूनों को त्याग दिया है। हिंदुओं ने निरपेक्ष, भेदभाव विहीन और जेंडर समानता और इंसाफ़ पर आधारित

कोड को अपना लिया है। इसलिए, यह कोड अल्पसंख्यक समुदायों पर भी लागू होने चाहिए ताकि 'उनकी' महिलाओं को भी 'मुक्त' किया जा सके। सुप्रीम कोर्ट के कुछ निर्णयों में की गई टिप्पणियों ने भी इस तनाव में आग में घी डालने का काम किया है। उदाहरण के लिये, सरला मुद्गल⁸ का केस देखें। हिंदू पुरुषों द्वारा इस्लाम क़बूल कर बहुविवाह करने के मामले की पड़ताल करते हुए सुप्रीम कोर्ट ने बिना किसी संदर्भ के कह दिया कि अगर अलग-अलग अल्पसंख्यक समूहों द्वारा अलग-अलग पारिवारिक क़ानून का पालन किया जाएगा तो देश की एकता और साथ-ही-साथ देश के साथ वफ़ादारी भी ख़तरे में पड़ जाएगी।

दांपत्य अधिकारों की बहाली

दामपत्य अधिकारों की बहाली (Restitution of Conjugal Rights) अंग्रेज़ी क़ानून का हिस्सा था। इस विचार की जड़ें यूरोप के मध्ययुगीन चर्च में थीं। यह मानना था कि विवाह एक अटूट और पवित्र धार्मिक संस्कार है। इसीलिए, यदि कोई पत्नी अपने पति को छोड़ दे तो उसे वापस लाया जा सकता है, और चर्च के द्वारा उसे वापस अपने पति के संरक्षण में दिया जा सकता है। यह थोड़ी सी दासों की हालत से मिलती-जुलती व्यवस्था है। यह उपाय उस विचार पर आधारित था कि पत्नी, पति की जायदाद है। लेकिन 19वीं सदी में जब सिविल क़ानून अस्तित्व में आए तो इस विचार में व्यापक बदलाव आया। महिलाओं को क़ानूनी रूप से अलग होने और तलाक़ का अधिकार मिला। इसके बाद दामपत्य अधिकारों की बहाली का इस्तेमाल, पत्नी को पुनः पति के संरक्षण में बहाल करने के लिए उपयोग में नहीं किया जा सकता।

यद्यपि, औपनिवेशिक शासन के दौरान, हिंदू और मुसलमान विवाहों के संबंध में इस सिद्धांत को लागू किया गया। इस मामले में सबसे नामी केस 1882-85 में रुक़माबाई का है⁹ रुक़माबाई की शादी बच्चपन में हो गई थी। समझदार होने के बाद, उसने अपने पति के साथ रहने से इनकार कर दिया। उसके पति ने दामपत्य अधिकारों की बहाली का केस दायर किया। निचली अदालत ने इस मामले में उसके पति को किसी भी तरह की राहत देने से इनकार कर दिया। कोर्ट का कहना था कि प्राचीन हिंदू क़ानून ऐसे विचार को मान्यता नहीं देता। इस फ़ैसले के खिलाफ़ अपील हुई। हिंदू पुनरुत्थानवादियों के दबाव में बॉम्बे हाईकोर्ट की एक खंडपीठ ने पत्नी को पति के साथ जाने और अपने वैवाहिक जीवन के दायित्वों (अर्थात् यौन संबंध) को पूरा करने का आदेश दिया। रुक़माबाई ने औपनिवेशिक कोर्ट का आदेश मानने से इनकार कर दिया। वह इसके लिए जेल जाने को भी तैयार थी। केस ने इंग्लैंड में भी काफ़ी हंगामा बरपा कर दिया। इसने महिलाओं के रक्षक के रूप में औपनिवेशिक शासकों की छवि भी तार-तार कर दी। आखिर में, जब रुक़माबाई अपने पति को मुआवज़ा देने पर राज़ी हुईं, तब यह मामला ख़त्म हुआ (Chandra, 1998; Agnes, 1999)।

हिंदू विवाह अधिनियम की धारा 9 के द्वारा, संहिताबद्ध हिंदू क़ानून में इस उपाय को सम्मिलित कर लिया गया¹⁰। यद्यपि, इसे दोनों पक्षों पर लागू किया गया। इस क़ानून के बनने के दो दशक में

⁸ *Sarla Mudgal v. Union of India*, (1995) 3 SCC 635.

⁹ *Dadaji Bhicaji v Rukmabai* (1885) ILR 9 Bom 520.

¹⁰ ऐसा इस कारण से है कि संहिताबद्ध हिंदू क़ानून के तहत वैवाहिक मसलों को निपटाने के लिए जो रास्ते सुझाए गए थे, वे प्रचलित अंग्रेज़ी पारिवारिक क़ानून से लिए गए थे। हालाँकि, कुछ वर्षों बाद अंग्रेज़ी क़ानून से ये उपाय हटा दिए गए परन्तु हिंदू क़ानून के तहत इनका प्रचलन जारी रहा। प्रायः इस प्रावधान का सहारा लेकर हिंदू पति अपनी परित्यक्ता पत्नी को गुज़ारा भत्ता देने से बचने की कोशिश करते हैं।

इस उपाय का इस्तेमाल कर कई पतियों ने अदालत का दरवाजा खटखटाया। पति इस प्रावधान का सहारा लेकर अपनी पत्नियों को उनकी मर्जी की जगह पर रोजगार के बेहतरीन अवसर हासिल करने से रोकना चाहते थे। यह उन्होंने तब किया जब पत्नियाँ ही अपने परिवारों का मुख्य आर्थिक संबल थीं, और उनसे ही घर का खर्च चलता था। अदालतों ने संहिताबद्ध कानून के तहत पतियों के इस अबाध हक को उचित ठहराया। इसके साथ, अदालतों ने निम्न टिप्पणियाँ भी कीं: 'एक पत्नी का पहला दायित्व अपने पति के प्रति है। वह उसकी सत्ता के सामने अपने को आज्ञाकारी की तरह समर्पित करे। वह हमेशा उसकी छत के नीचे और उसके संरक्षण में रहे।'¹¹ 'हिंदू कानून, पत्नी पर यह ज़िम्मेदारी डालता है कि वह पति के लिए मौजूद रहे, उसकी आज्ञाकारी रहे और उसकी आराधना करे। यही नहीं, पत्नी की ज़िम्मेदारी है कि पति जहाँ रहना चाहता है, वहाँ वह भी रहे।'¹² 'हिंदू कानून के मुताबिक, विवाह एक पवित्र संगम है। इसलिए, वह वहीं रह कर वैवाहिक दायित्वों को पूरा करे जहाँ उसका पति रहने का फैसला करता है। वह अपने पति के घर में ही अपनी ज़िम्मेदारियाँ निभाए।'¹³

आखिरकार, 1978 में दिल्ली हाईकोर्ट की पूर्ण पीठ¹⁴ ने पहले के निर्णयों में दी गई दलीलों से अलग रुख अख्तियार किया। पीठ ने महिलाओं को बेहतर रोजगार और नौकरी के लिए अपने पतियों से अलग रहने का अधिकार दिया। पति भगवान और मालिक है, और पत्नी को उसके अधीन रहना चाहिए (पति परमेश्वर का विचार) यह सोच अब भी तलाक के मामलों में प्रमुख विचार है।

वर्ष 1983 में टी. सरिता बनाम टी. वेंकटसुब्बैया¹⁵ केस में आंध्र प्रदेश हाईकोर्ट ने इस अपमानजनक धारा को रद्द कर दिया, और इसे अंसवैधानिक करार दिया। यद्यपि, इस धारा के शब्द महिलाओं के साथ भेदभाव नहीं करते, लेकिन जिस सामाजिक परिवेश में यह कानून काम करता है, उसकी जाँच जस्टिस पी.ए. चौधरी ने महिलाओं के हित में दिए गए इस फैसले में की। उनके मुताबिक, यह प्रावधान संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत गारंटी किए गए मानवीय सम्मान और निजता के अधिकार का उल्लंघन है। यह किसी व्यक्ति की निजता के अधिकार के उल्लंघन के सबसे बुरे रूप की वजह है। इस प्रावधान के दूरगामी असर हैं। यह प्रजनन के बारे में महिलाओं को स्वतंत्र फैसला लेने से वंचित करता है।

1984 में दिल्ली हाईकोर्ट ने हरविंदर कौर बनाम हरमिंदर सिंह¹⁶ मामले में इस प्रावधान को उचित ठहराया। उन्होंने एक कानूनी तर्क का हवाला देते हुए कहा कि संविधान का खंड 3 निजी कानूनों पर लागू नहीं होता। निर्णय इस प्रकार है:

घर के दायरे में संवैधानिक कानून को लाना सबसे अनुचित है। यह बेहद अटपटा है। यह शादी की संस्था और जिन मूल्यों पर वह आधारित है, उन्हें बुरी तरह से बर्बाद करनेवाला साबित होगा। घर और शादीशुदा जिंदगी की निजता में न तो अनुच्छेद 21 की कोई जगह है और न ही अनुच्छेद 14 की।

¹¹ *Gaya Prasad v Bhagwat*, AIR 1966 MP 212.

¹² *Surinder Kaur v Gardeep Singh*, AIR 1973 P&H134.

¹³ *Kailash Wati v Ayodhia Parkash*, ILR (1977) 1 P&H 642 FB.

¹⁴ *Swaraj Garg v R.M. Garg*, AIR 1978 Del 296.

¹⁵ AIR 1983 AP 356.

¹⁶ AIR 1984 Del 66.

बाद में उसी वर्ष सुप्रीम कोर्ट ने सरोज रानी बनाम सुदर्शन चड्ढा¹⁷ मामले में दिल्ली हाईकोर्ट के फ़ैसले पर मुहर लगाई और मानव अधिकारों के सिद्धांतों के आधार पर दिए गए आंध्र प्रदेश हाईकोर्ट के प्रगतिशील फ़ैसले को खारिज कर दिया।

हिंदू एक पत्नीत्व की असलियत

वेर्नर मेंस्की के अनुसार हिंदू क़ानून के विकास की व्याख्या कहा है करते हुए कि हिंदू विधि हमेशा से लोक-क़ानून की तरह काम करती रही है। इसलिए जटिल, हिंदू निजी क़ानून को एक विधान के द्वारा सुधारा या ख़त्म नहीं किया जा सकता। यह पूरे भारतीय सामाजिक विधि क्षेत्र में इस तरह समावेहित है कि कोई क़ानूनी मानक बनाकर या किसी अन्य तरीक़े से उसके प्रभाव को कम नहीं किया जा सकता। क़ानून को तो संहिताबद्ध कर दिया गया, जबकि सामाजिक वास्तविकता यह थी कि केवल आधिकारिक भारतीय क़ानून बदला जा सके। दूसरी ओर, बड़े पैमाने पर हिंदू क़ानून गुप्त रूप में चलते रहे, और अनाधिकारिक क़ानूनों का क्षेत्र बढ़ता रहा। बहुलतावादी जीवन-पद्धतियों का आधारभूत वैचारिक ढाँचा और इस तरह हिंदू संस्कृति का संपूर्ण प्रथागत सामाजिक ताना-बाना, क़ानूनी आधुनिकीकरण के शक्तिशाली चमत्कारिक इलाज से बड़े पैमाने पर बेअसर रहा (Mensky, 2003, पृ. 24-25)।

एक बहुलतावादी समाज में हिंदू विवाह अधिनियम ने अलग-अलग रीति-रिवाजों और प्रथाओं को मान्यता दी। यद्यपि, उनकी वैधता का वैचारिक आधार प्राचीन प्रचलन ही रहा, जैसा अंग्रेज़ी क़ानून के तहत था। ब्राह्मणवादी रीति-रिवाजों और प्रथाओं का अंग्रेज़ी विधि सिद्धांतों के साथ मिलन हिंदू विवाहों की वैधता के बारे में बेतुके फ़ैसले की वजह बना। इससे सबसे ज़्यादा प्रताड़ित महिलाएँ ही हुईं।

शहरीकरण की प्रक्रिया में ज़्यादातर रीति-रिवाजों के स्वरूप में बदलाव हो रहा है। आसपास रहने वाले शहरी समुदायों ने नई मिली-जुली वैवाहिक प्रथाओं को अपना लिया है। ये प्रथाएँ कई रूप में दिखाई देती हैं। उदाहरण के लिये, एक-दूसरे के गले में माला डालने की प्रथा, दुल्हन के माथे पर सिंदूर लगाना, एक स्टॉप पेपर पर हस्ताक्षर कर एक-दूसरे को शादीशुदा मानने का एलान करना या फिर किसी मंदिर में देवी-देवता के सामने शपथ ले लेना। मीडिया और हिंदी फ़िल्मों ने इन सबको वैध प्रथा के रूप में दिखा-दिखा कर भ्रम को और बढ़ाने का काम किया है।

इस अस्पष्टता और भ्रम ने हिंदू पुरुषों को एक से ज़्यादा शादी करने का बड़ा मौक़ा दिया है। चूँकि, क़ानून सिर्फ़ एक-पत्नी विवाहों को मान्यता देता है, इसलिए बहु-पत्नी विवाह के रिश्ते में शामिल महिलाओं को उनके हक़ों से वंचित रखा गया है। कोई पुख्ता प्रमाण न होने की वजह से, पुरुष के पास चयन का मौक़ा रहता है कि वह अपनी पहली शादी या बाद के रिश्ते में से किसी एक को वैध शादी के रूप में मान्यता प्रदान करे। इस तरह, पुरुष दूसरी महिला के प्रति आर्थिक उत्तरदायित्व निभाने से अपने को बचा लेता है। ऐसी प्रथाओं का कोई आधिकारिक रिकॉर्ड नहीं होता है, इसलिए हिंदू पतियों द्वारा विवाह से इनकार करने की बात या यह दलील कि वह महिला उसकी पत्नी नहीं है, आम बात है।

¹⁷ AIR 1984 SC 1562.

ऐसा करके वे उसके भरणपोषण के दावे से इनकार कर देते हैं। इसके बाद यह वकीलों पर छोड़ दिया जाता है कि वे ऐसी रणनीति तैयार करें जो कल्पना को तथ्य में बदल दे, और तथ्य को कल्पना बना दे।

जब कोई पुरुष शादी की वैधता से इनकार करता है, तो महिला न सिर्फ़ भरणपोषण का अधिकार खो देती है बल्कि वह 'पत्नी' के रूप में अपनी प्रतिष्ठा का अधिकार भी गँवा बैठती है। महिला को बेइज्जती का सामना करना पड़ता है। 'रखैल' या 'दूसरी महिला' का सामाजिक कलंक झेलना पड़ता है। कानून की पुस्तकों की थोड़ीसी जाँच यह बता देगी कि भरणपोषण के मामले की कार्यवाही में विवाह की वैधता से इनकार का दाँव कितना आम है।

इसलिए प्रगतिशील दिखनेवाला एक-पत्नीत्व का प्रावधान न सिर्फ़ एक मज़ाक़ बन कर रह गया है, बल्कि यह तो महिलाओं के लिए ग़ैर-संहिताबद्ध हिंदू विधि से भी ज़्यादा नुक़सानदेह साबित हुआ है। कम-से-कम, ग़ैर-संहिताबद्ध हिंदू विधि बहुविवाह की सूत्र में पत्नियों के अधिकारों को मान्यता तो देती थी। उदाहरण के लिए, भरण-पोषण के एक मामले में एक पति ने यह दलील दी कि मुक़दमा दायर करनेवाली स्त्री उसकी दूसरी पत्नी है, और वह उसका भरणपोषण देने का जिम्मेदार नहीं है। अदालत ने ग़ैर-संहिताबद्ध हिंदू विधि का सहारा लिया। कोर्ट के अनुसार, चूँकि दंपति प्राचीन हिंदू विधि से नियंत्रित होते हैं (जो दूसरी पत्नी की इजाज़त देता है), न कि सुधार के बाद बने कानून से, इसलिए दूसरी पत्नी भरण-पोषण की हक़दार है।¹⁸ यह फ़ैसला उस कानून के बारे में बहुत कुछ कह देता है जिसकी शुरुआत काफ़ी धूमधाम से की गई थी, और जिसे सामाजिक बदलाव और महिला सक्षमीकरण का हथियार बताया गया था।

भरणपोषण के मुक़दमों की सुनवाई के दौरान औरतों के सामने सबसे बड़ी कठिनाई बहु-पत्नीत्व के तर्क के रूप में पेश आती है। इस मामले में सालों की मुक़दमेबाज़ी के बाद भी अदालतों द्वारा अड़ियल रुख़ अपनाने की वजह से बेवफ़ा पुरुषों को सज़ा नहीं हो पाती है। अदालतों का रुख़ होता है कि हिंदू विवाह के लिए, होम, सप्तपदी और कन्यादान-जैसी ब्राह्मणवादी प्रथाएँ ज़रूरी विधान हैं। साथ रहने के प्रमाण, संतान का जन्म या समुदाय द्वारा पति-पत्नी के रूप में उनके रिश्ते की स्वीकार्यता के बावजूद अगर पहली पत्नी अपने पति की दूसरी शादी के सारे विधान का होना साबित नहीं कर पाती है तो पति आसानी से कानून के चंगुल से बच निकलता है (Agnes, 1995)।

यह बेतुका था क्योंकि हिंदू धर्म को व्यापक रूप से परिभाषित करते हुए उन जातियों, पंथों और धर्मों को भी शामिल कर लिया गया, जो ब्राह्मणवादी प्रथाओं को नहीं मानते थे। यही नहीं, इनमें से कई समुदायों में दूसरे विवाह के लिए तय विधान, 'कुंवारी दुल्हन' की पहली शादी के विधान से बहुत अलग होते थे। लेकिन कानून में इन छोटी-छोटी पेचीदगियों पर विचार करने की कोई गुंजाइश नहीं रही।

हिंदू विवाह अधिनियम के लागू होने के लगभग 20 साल बाद 1974 में टूवर्ड्स 'इक्वालिटी' नाम की रिपोर्ट आई। इस रिपोर्ट ने एक चिंताजनक पहलू उजागर किया। इसके अनुसार, मुसलमानों की तुलना में हिंदुओं, बौद्धों और जैनों (संहिताबद्ध हिंदू विधि से नियंत्रित होनेवाले समुदाय) में बहुविवाह ज़्यादा प्रचलित है।¹⁹ कानून ने, अमान्य शादियों में फँसी हिंदू महिलाओं की बड़ी संख्या को छिपाने

¹⁸ *Anupama Pradhan v Sultan Pradhan* 1991 Cri.LJ 3216 Ori

¹⁹ मुसलमान 5.6 फ़ीसदी, हिंदू 5.8 फ़ीसदी, जैन 6.7 फ़ीसदी, बौद्ध 7.9 फ़ीसदी।

का काम किया। यही नहीं, जब पति यह दलील देता है कि यह महिला उसकी 'रखैल' है, तो वह ऐसी महिलाओं को भरणपोषण और गुजरबसर के मूलभूत अधिकार से भी वंचित कर देता है।

एक-पत्नीत्व के विचार का मटियामेट

अधिकार वंचन की भावना की आम धारणा के उलट, हिंदू पति को (मुसलमानों की तुलना में) विशेष दर्जा प्राप्त है। वह उस महिला को न सिर्फ़ भरणपोषण से वंचित करता है, जिसके साथ उसने सिर्फ़ सहवास ही नहीं किया बल्कि संतान भी पैदा की। इसके लिए वह कोर्ट की कार्यवाहियों के दौरान महज़ यह दलील दे देता है कि उसने एक-पत्नीत्व के आदेश का उल्लंघन किया है। ऐसा करने पर उसे किसी तरह की आपराधिक कार्रवाई नहीं झेलनी पड़ती है। इसकी तुलना में बहुविवाह में शामिल मुसलमान महिलाओं की हालत, हिंदू महिलाओं से बेहतर है। ऐसी शादी में शामिल मुसलमान महिलाएँ, भरण-पोषण, आश्रय, इज़्जत और बराबर की हैसियत की हक़दार हैं। उसे पाँवपोश की तरह इस्तेमाल कर दरकिनार नहीं किया जा सकता है।

'लॉ जर्नल' में रिपोर्ट किए गए केस इस बात के गवाह हैं कि हिंदू पुरुषों के बीच ऐसी रणनीति कितनी आम है। कुछ नरमदिल और संवेदनशील न्यायाधीशों की लगातार कोशिश रही है कि ऐसी शादियों में फँसी महिलाओं के अधिकार सुरक्षित रखे जाएँ। उन्हें इज़्जत दिलाई जाए। आगे कुछ ऐसे ही फ़ैसलों के उदाहरण हम प्रस्तुत करेंगे।

सन् 2005 में रमेशचंद्र डागा बनाम रामेश्वरी डागा²⁰ मामले में सुनवाई करते हुए, सुप्रीम कोर्ट इस मसले के साथ विचलित हुआ। पति ने अपने पहली शादी के बरकरार रहने की बिना पर अपनी दूसरी शादी की वैधता को चुनौती दी थी। सुप्रीम कोर्ट ने पति को दूसरी महिला को भरणपोषण का खर्च देने का आदेश दिया। कोर्ट ने माना कि क़ानून के संहिताबद्ध होने और एक-पत्नीत्व का प्रावधान लागू करने के बावजूद ज़मीनी हालात में बहुत बदलाव नहीं आया है। मुसलमानों की तरह, हिंदुओं में भी बहुविवाह जारी है। कोर्ट ने टिप्पणी की कि यद्यपि संहिताबद्ध हिंदू क़ानून के प्रावधानों के अनुसार ऐसी शादियाँ ग़ैर-क़ानूनी हैं लेकिन 'अनैतिक' नहीं। इसीलिए आर्थिक रूप से निर्भर महिला को सिर्फ़ इस आधार पर भरण-पोषण से वंचित नहीं किया जा सकता (Agnes, 2011)।

उसी वर्ष, क़ानूनी रूप से अवैध विवाहों से ग्रस्त हिंदू महिलाओं के साथ होनेवाली अन्याय को दूर करने और उन्हें क़ानूनी दायरे में लाने के लिए घरेलू हिंसा से महिलाओं का संरक्षण अधिनियम, 2005 (पीडब्ल्यूडीवीए) ने 'विवाह-जैसे संबंध' के विचार को क़ानून में जगह दी। आम भाषा में हम ऐसे संबंध को 'लिव-इन रिलेशनशिप' के नाम से भी जानते हैं।

हालाँकि डी. वालूसामी²¹ के मामले में जस्टिस मार्कण्डेय काटजू द्वारा दिया गया सुप्रीम कोर्ट का फ़ैसला बड़ा निराशाजनक साबित हुआ। सुप्रीम कोर्ट एक हिंदू पुरुष की अपील पर विचार कर रहा था। उसकी पत्नी को दो निचली अदालतों ने सीआरपीसी (दंड प्रक्रिया संहिता) की धारा 125 के तहत

²⁰ I (2005) DMC 1 SC.

²¹ D. Velusamy v. D. Patchaimmal 2010 (10) SCC 469.

भरणपोषण देने का फैसला दिया था। जस्टिस काटजू ने इस फैसले को निरस्त कर दिया। उस महिला को भरणपोषण के अधिकार से वंचित कर दिया। यही नहीं, जज महोदय ने घरेलू हिंसा अधिनियम के तहत दिए गए प्रावधान 'विवाह-जैसे संबंध' का दायरा भी संकुचित कर दिया। यह कहा:

अगर किसी पुरुष की कोई 'रखैल' है और वह आर्थिक रूप से उसकी देखभाल करता है और मुख्यतः उसका इस्तेमाल यौन संबंध बनाने या नौकर के रूप में करता है तो हमारे अनुसार से यह विवाह की प्रकृति-जैसा संबंध नहीं होगा ... इसमें कोई शक नहीं है कि हम जो रख अपना कर रहे हैं, वह लिव-इन रिलेशनशिप में रहनेवाली महिलाओं को 2005 के क्रानून से मिलनेवाले फ़ायदे से अलग कर देगा। लेकिन क्रानून बनाना या उसमें संशोधन इस कोर्ट का काम नहीं है।

अपनी कलम से एक झटके में जज महोदय ने उन सारे फैसलों को पलट दिया जो ऐसे रिश्तों में फँसी महिलाओं को राहत दिलाने का रास्ता तलाशने की कोशिश में दिए गए थे।

यघपि, 2014 में बादशाह बनाम उर्मिला बादशाह गोडसे²² मामले में न्यायमूर्ति रंजना देसाई और ए.के. सिखरी ने जस्टिस काटजू के फैसले से असहमति जताई। दोनों जजों ने हिंदू पति द्वारा जबरन अपनी पत्नी को बहुविवाह को मानने के लिए मजबूर करने और उसे भरणपोषण से वंचित करने की कोशिश को नाकाम कर उस हिंदू महिला के अधिकारों को बरकरार रखा। फैसले ने इस बात को रेखांकित किया कि इस प्रावधान के तहत बेसहारा पत्नी की अर्ज़ी पर विचार करते हुए, असलियत में कोर्ट समाज में हाशिए पर डाल दिए गए लोगों के बारे में विचार कर रहा है। इसका उद्देश्य, भारत के संविधान की प्रस्तावना में दी गई 'सामाजिक न्याय' की भावना पर क्रियान्विति है। संविधान की प्रस्तावना साफ़ तौर पर यह संकेत देती है कि हमने लोकतांत्रिक रास्ता इसलिए चुना है ताकि सभी नागरिकों के लिए न्याय, स्वतन्त्रता, समानता और बंधुता की गारंटी हो। इसलिए, कोर्ट का परम कर्तव्य है कि वह सामाजिक न्याय के विचार को आगे बढ़ाए।

इस बात से क्रतई इनकार नहीं है कि सीआरपीसी की धारा 125 का प्रावधान करते समय विधायिका ने अपने संवैधानिक दायित्व को पूरा किया है। इसका उद्देश्य हमेशा ऐसे हालात में 'पत्नी' बन गई स्त्री को राहत दिलाना था।

उदाहरण के तौर पर, इस फैसले ने शाहबानो²³ से शबाना बानो²⁴ तक के सफ़र का उल्लेख किया। इन निर्णयों में तलाक़शुदा मुस्लिम महिलाओं को भरणपोषण का अधिकार मिला था। जज हाल के दिनों में मुस्लिम क्रानून में हुए विकास का हवाला दे रहे थे। इस नए घटनाक्रम के तहत डैनियल लतीफ़ी²⁵ और शबाना बानो²⁶ और शमीम आरा²⁷ आदि मामलों में दिए गए महत्वपूर्ण निर्णयों में कोर्ट ने तलाक़ के बाद मुस्लिम महिला के आर्थिक अधिकारों का संरक्षण किया था। यही नहीं, इन फैसलों

²² 2014 (1) SCC 188.

²³ *Mohd Ahmed Khan v Shahbano Begam*, AIR 1985, SC 945.

²⁴ *Shabana Bano v Imran Khan*, AIR 2010, SC 305.

²⁵ *Daniel Latifi v Union of India*, (2001), 7 SCC, 740 FB.

²⁶ *Shabana Bano v Imran Khan*, AIR 2010, SC 305.

²⁷ *Shamim Ara v State of UP*, 2002 (7), SCC 518.

में एक साथ तीन तलाक़ को अमान्य करार दिया गया, और इस्लामी क़ानून के तहत तलाक़ देने के लिए आवश्यक क़ुरान की सख़्त शर्तों को लागू किया गया।

एक अन्य फ़ैसले में सन् 2015 में, जस्टिस विक्रमजीत सेन और ए.एम. सप्रे की खंडपीठ ने इसी तरह के मामले में एक पुरुष की याचिका को निरस्त कर दिया। मर्द ने दावा किया कि वह लिव-इन रिलेशनशिप में आने से पहले ही विवाहित था। इसलिए उसकी साझीदार, पत्नी का दर्जा पाने का दावा नहीं कर सकती है। वह किसी तरह के भरणपोषण की भी हक़दार नहीं है (Choudhary, 2015)। बॉलीवुड से जुड़े इस व्यक्ति ने बॉम्बे हाईकोर्ट के आदेश को चुनौती दी थी। बॉम्बे हाईकोर्ट ने फ़ैसला दिया था कि नौ साल से उसकी लिव-इन पार्टनर रही महिला और उसका बच्चा भरण-पोषण के हक़दार हैं। उस व्यक्ति ने यह तर्क दिया कि चूँकि वह पिछले 49 सालों से क़ानूनी रूप से एक अन्य महिला के साथ शादीशुदा रिश्ते में है, और यह बात उसकी लिव-इन पार्टनर भी बख़ूबी जानती थी, इसलिए उसे किसी तरह का भरण-पोषण देने का दायित्व उस पर नहीं है। उसने दलील दी कि उसकी लिव-इन पार्टनर एक 'कॉल गर्ल' थी। उस महिला ने अपनी मर्जी से 1986 से उसके साथ रहने का फ़ैसला किया। सन् 1988 में उन्हें एक संतान हुई। जजों ने अपनी पार्टनर को 'कॉल गर्ल' कहने के लिए इस मर्द को लताड़ भी लगाई।

ये फ़ैसले उन महिलाओं के प्रति न्यायिक नज़रिए में आ रहे परिवर्तन का संकेत हैं जिन्हें कोर्ट की कार्यवाहियों के दौरान बेइज़्जत और कलंकित किया जाता था। साथ ही इन निर्णयों ने बेक्राबू पतियों को अपने पूर्व साझीदारों को भरणपोषण देने से बचा लेने की मानसिकता पर भी अंकुश लगाया। इस सच्चाई के बावजूद आम नज़रिया (खासकर मीडिया और प्रगतिशील समूहों में) इसके विपरीत है। इन क़ानूनी घटनाक्रमों से आँख मूँद कर मुसलमानों में बहुविवाह ख़त्म करने और मुसलमान स्त्रियों को हिंदू स्त्रियों के बराबर लाने की माँग की जाती है।

वर्तमान चिंताएँ

जैसे ही हम समान नागरिक संहिता (यूसीसी) को लागू करने की बहस शुरू करते हैं, एक आम धारणा बनती है कि संहिताबद्ध हिंदू क़ानून ही इसका आधार बनेगा। इसके समानांतर एक राय यह भी है कि सभी निजी क़ानूनों की अच्छी बातों को इस आदर्श संहिता में शामिल करना चाहिए। ऐसे प्रस्ताव की कसौटी पर मुख्यधारा के बहुसंख्यकों पर लागू हिंदू क़ानून कैसे बेहतर साबित होगा? हमारी अदालतों में हिंदू क़ानून किस रूप में उजागर हो रहा है इन प्रश्नों के अतिरिक्त, जेंडर न्याय के अन्य महत्वपूर्ण पैमानों को भी इस बहस में शामिल करना आवश्यक है।

एक चौकानेवाली न्यूज़ रिपोर्ट से जानकारी मिली है कि जनगणना के ताज़ा आँकड़ों के अनुसार भारत में एक करोड़ बीस लाख विवाहित लोग ऐसे हैं, जिनकी उम्र 10 साल से कम है। हम कह सकते हैं कि यह आँकड़ा जम्मू और कश्मीर की आबादी के बराबर है। इस रिपोर्ट की सबसे चिंताजनक बात यह है कि इनमें 84 फीसदी हिंदू हैं, और 11 फीसदी मुसलमान हैं (Saha, 2016)। यूसीसी पर मौजूदा बहस के संदर्भ में यह आँकड़े हमें क्या बताते हैं? वह भी तब जब यूसीसी पर पूरी बहस के केंद्र में मुख्यतः उत्पीड़नकारी मुस्लिम क़ानून है।

बाल विवाह प्रतिषेध अधिनियम, 2006 और इसके साथ-साथ हिंदू विवाह अधिनियम के अनुसार, किसी हिंदू लड़की की शादी की न्यूनतम उम्र 18 वर्ष है। दूसरी ओर, मुस्लिम कानून में जो सिद्धांत काम में लाया जाता है, वह है लड़की की 'सोचने-समझने की उम्र'। आमतौर पर, यह मान लिया जाता है कि यह सोचने-समझने की उम्र किशोर होने के साथ आ जाती है। हिंदू कानून के संहिताबद्ध होने की वजह से हिंदुओं में कोई सामाजिक परिवर्तन हो गया हो, कम-से-कम बाल विवाह के आँकड़े ऐसा कुछ भी नहीं दिखा रहे हैं।

हालाँकि बाल विवाह पर पाबंदी है लेकिन ऐसी शादी अमान्य नहीं होती। कुछ संगठन बाल विवाह पर पूरी तरह पाबंदी लगाने का अभियान चला रहे हैं। उनकी माँग है कि हर प्रकार के बाल विवाह को अमान्य घोषित किया जाए। लेकिन सामाजिक न्याय के परिप्रेक्ष्य से सभी पहलुओं पर विचार करना चाहिए। उन हिंदू लड़कियों पर क्या असर पड़ेगा जिनकी शादी कच्ची उम्र में कर दी गई और जिन्हें बालिग होने से पहले ही छोड़ दिया गया है। जब एक बेसहारा लड़की गोद में संतान लिए अदालत का दरवाजा खटखटाती है तो वह भरणपोषण के मूलभूत अधिकार से वंचित हो जाएगी क्योंकि उसकी शादी ही अमान्य करार दी गई है। क्या यह न्यायोचित होगा?

यद्यपि, यह कानूनी जटिलता है। इसका सामाजिक पहलू भी है। अनेक ग्रामीण हिंदू समुदायों में यह विश्वास आज भी पुष्ट है कि एक लड़की की शादी किशोर होने से पहले कर दी जानी चाहिए। 'कुँआरी दुल्हन' का विचार आज भी मजबूत है। किसी तरह की यौन हिंसा जो लड़की के दामन पर दाग लगा देगी, और उसे अशुद्ध कर देगी और फिर वह विवाह के लायक नहीं रह जाएगी, यह भय हमारे समाज में आज भी मौजूद है। इसलिए, माँ-बाप अविवाहित लड़कियों को घर में रखने का खतरा उठाने से डरते हैं। माँ-बाप को यह डर लगा रहता है कि कहीं लड़की अपने पसंद के लड़के के साथ न चली जाए और खानदान को बेइज्जत न कर दे। इसकी वजह से भी वे अपनी बेटियों की कम उम्र में शादी कर देना चाहते हैं। ऐसी शादियों की वजह से लड़कियों को अपने ससुराल में यौन और घरेलू हिंसा का शिकार होने का खतरा बढ़ जाता है। फिर भी, माँ-बाप में बेटियों की यौन शुद्धता और यौन कलंक की चिंता, उनकी सेहत और सुरक्षा की चिंता पर ज्यादा भारी पड़ती है। इसलिए भी, वे कम उम्र में अपनी बेटियों की शादी कर देते हैं।

संसोधित हिंदू कानून भी गहराई तक जड़ जमाए इन विचारों को बदलने में नाकाम रहा है। यह बाल विवाह को जर्म बनाए जाने और अमान्य किए जाने का सवाल नहीं है। बल्कि, ऐसे कदम उठाने की आवश्यकता है कि जब तक एक लड़की कम-से-कम 18 साल की नहीं हो जाती है, तब तक उसके लिए औपचारिक और अनौपचारिक दोनों तरह की शिक्षा की पर्याप्त व्यवस्था हो, कौशल प्रशिक्षण का प्रबंध हो, और उसे सुरक्षित वातावरण मिले। इसके साथ ही कुँआरी दुल्हन के बारे में माँ-बाप की दृष्टि में भी बदलाव लाया जाए।

एक हिंदू पिता आज भी यह विश्वास करता है कि मुक्ति पाने के लिए बेटी की शादी एक पवित्र उत्तरदायित्व है। यह विचार बाल विवाह को तो बढ़ाता ही है, कानूनी रूप से जर्म होने के बावजूद दहेज को भी बढ़ावा देता है। साथ ही दहेज हिंसा में भी बढ़ोत्तरी करता है। घर में एक अविवाहित बेटी होने के कलंक का भार ढोने की तुलना में माँ-बाप पर किसी भी सूरत में बेटी की शादी कर देने का दबाव बहुत ज्यादा होता है। यह दबाव माँ-बाप को किसी भी क्रिमल पर दूल्हे के परिवारवालों के दहेज की

माँग को पूरा करने पर मजबूर करता है। कानूनी सुधारों के बावजूद दहेज के कारण होनेवाली मौतों और आत्महत्याओं का सिलसिला नहीं रुक रहा है। मजलिस द्वारा दहेज की वजह से होनेवाली मौतों के बारे में एक औपचारिक अध्ययन किया गया था। यह अध्ययन सुप्रीम कोर्ट और बॉम्बे हाईकोर्ट तक भी पहुँचा। इसके मुताबिक, दहेज मृत्यु के 95 फीसदी मामले हिंदुओं के थे।

यद्यपि, दहेज प्रथा का विस्तार निम्न मानी जानेवाली जातियों और अल्पसंख्यक समुदायों में भी हुआ है, लेकिन हिंदू सांस्कृतिक परंपरा में इसकी गहरी जड़ों से नज़र नहीं मोड़ी जा सकती है। विडंबना तो यह है कि मुस्लिम कानून ने दुल्हन के भविष्य को सुरक्षित करने के लिए मेहर का विचार दिया। मेहर वह राशि है जो निकाहनामा में साफ़-साफ़ दर्ज होनी चाहिए। परन्तु, इस समुदाय ने दहेज के रूप में महिला-विरोधी हिंदू प्रथा तो अपना ली, लेकिन भविष्य की सुरक्षा के रूप में मेहर की अनिवार्यता को मजबूत करने की बजाए, उसे घटाकर महज़ औपचारिकता बना दी।

यह कहावत आज भी प्रचलित ही है कि 'जिस घर में बेटी की डोली जाती है, वहाँ से उसका डोला (अर्थाँ) ही निकलना चाहिए।' इसलिए गंभीर घरेलू हिंसा झेलने के बावजूद, उनके मारे जाने या आत्महत्या की ओर ढकेलने का खतरा उठाते हुए भी हिंसा में फँसी लड़कियों को उनके घर वापस भेज दिया जाता है। हिंदू कानून में संशोधन के बाद अब हिंदू विवाह को समझौता करार दिया गया है। इसके बावजूद, सामाजिक तौर पर इसे अब भी पवित्र बंधन माना जाता है। इसलिए, माँ-बाप अपने घर में तलाक़शुदा लड़की को रखने का खतरा उठाने की बजाए, अपनी बेटियों को बार-बार ससुराल भेजना उचित समझते हैं।

इसके अतिरिक्त, मुस्लिम विवाह हमेशा से एक सिविल करार माना गया। दूसरी ओर, ईसाई शादी तो शुरू में स्थायी और अटूट पवित्र बंधन मानी गई, लेकिन जैसे-जैसे शिक्षा और दुनिया से वास्ता पड़ा, विवाह की पवित्रता का विचार बदल गया। एक ओर, शहरी मध्यम और उच्चवर्गीय हिंदुओं के बीच तलाक़ की स्वीकार्यता धीरे-धीरे बढ़ रही है। घरेलू हिंसा का शिकार होने पर महिलाओं द्वारा तलाक़ का रास्ता अख़्तियार करने की संभावना पहले से बढ़ी है। दूसरी ओर, ग्रामीण इलाकों में विवाह के बारे में पवित्र और अटूट बंधन का विचार अब भी मजबूत है। इन इलाकों में महिलाओं द्वारा क्रूरता झेलने, छोड़ देने या उनके पतियों के अन्य महिलाओं से संबंध की सूरत में तलाक़ का विकल्प इस्तेमाल करने की संभावना काफ़ी कम है। शादी अब भी महिलाओं को सुरक्षा प्रदान करने का साधन माना जाता है।

विवाह के स्थायी होने और पति के स्वामी और मालिक माने जाने का विचार आज भी न सिर्फ़ आम लोगों के बीच मजबूत है, बल्कि जज भी इस विचार को मान्यता देते हैं। पारिवारिक अदालतों में चल रहे मामलों में यह साफ़ देखा जा सकता है। महिलाओं को लगातार सलाह दी जाती है कि वे अपनी शादी बचाने के लिए वापस लौट जाएँ। कई बार तो महिलाओं के जीवन को ख़तरे में डालकर भी ऐसी सलाह दी जाती है। शादी की निशानी के तौर पर पहना जानेवाला मंगलसूत्र और माथे पर लगनेवाला सिंदूर, सम्मान की बात मानी जाती है। साथ ही, इन निशानियों को दूसरे मर्दों की बुरी नज़र से बचाव का जरिया भी माना जाता है। इसलिए, स्त्रियाँ मानती हैं कि भले ही उनका पति क्रूर, हिंसक, शराबी हो, उनका विवाहित रहना ज़्यादा बेहतर विकल्प है।

घरेलू हिंसा कानून के लागू होने के बाद भी पुलिस या थानों में बैठे सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा यही सलाह दी जाती है कि शादी बचाने के लिए वे सुलह कर लें और अपने ससुराल वापस लौट

जाएँ। इन्हें यही सबसे बेहतर हल नज़र आता है। क्योंकि, सरकार ने एक गृहणी से स्वतंत्र और अपने पैरों पर खड़ी व्यक्ति बनने की प्रक्रिया के लिए सहयोग/समर्थन की वैकल्पिक संरचना तैयार नहीं की है (Agnes and D'Mello, 2015)। जब भी हिंसा का चक्र फिर शुरू होता है, स्त्रियाँ गंभीर निराशा के भँवर में डूब जाती हैं। हाल में ही 187 मुल्कों में एक अंतरराष्ट्रीय अध्ययन हुआ है। इस अध्ययन ने काफ़ी चिंताजनक तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है। इसके अनुसार, भारत में 15-49 साल के बीच की विवाहित महिलाओं में मौत की सबसे बड़ी वजह आत्महत्या है। इससे पहले मातृत्व मृत्यु बड़ी वजह थी (Clark, 2016)। आशंका है कि आत्महत्या करनेवाली महिलाओं में बड़ी तादाद शहरी हिंदू गृहणियों की है।

सभी धर्म पितृसत्तात्मक हैं। वे स्त्री की यौनिकता पर ज़बरदस्त नियंत्रण करने के पक्षधर हैं। इसीलिए, जब हम एक सामाजिक परिघटना 'ऑनर किलिंग' की जाँच करते हैं तो ब्राह्मणवादी पितृसत्ता की पकड़ अपने उरूज़ पर दिखती है। इस 'किलिंग' में एक लड़की की हत्या उसके ही माँ-बाप इसलिए कर देते हैं कि वह जाति के बंधनों को तोड़कर और अपने से निम्न मानी जानेवाली जाति के लड़के से शादी कर लेती है। हाल की लोकप्रिय फिल्म 'सैराट' इसी वास्तविकता का आईना है। पहले यह माना जाता था कि ऐसा सिर्फ़ उत्तर भारत में होता है। लेकिन अब कई दक्षिणी राज्यों से भी ऐसी घटनाओं की खबरें लगातार मिल रही हैं। कुछ उत्तर भारतीय समुदायों में सगोत्र और सपिंड शादियाँ करनेवाले नौजवान जोड़ों की भी हत्या कर दी गई है।

महिला-विरोधी सामाजिक प्रथाओं के इतने व्यापक प्रमाणों के बरअक्स क्या हम बिना किसी शक व सन्देह के मान सकते हैं कि संहिताबद्ध हिंदू क़ानून ने सामाजिक परिवर्तन लाने के हथियार के रूप में काम किया है? क्या हम यह यक़ीन कर सकते हैं कि इसने जेंडर संबंधों को बदला है? क्या हम बिना शक व सन्देह के यह यक़ीन कर सकते हैं कि इसने एक ऐसी नींव डाली है जिस पर भारत में समान और जेंडर न्यायवाले पारिवारिक क़ानून का मज़बूत ढाँचा खड़ा किया जा सकता है?

यह चुनौतीपूर्ण सवाल है जो आज हमारे सामने खड़ा है।

संदर्भ

- Agnes, Flavia (1995). Hindu men, monogamy and the uniform Civil Code. *Economic and Political Weekly*, 30(50), 32-38.
- (1999). *Law and gender inequality*. New Delhi : Oxford University Press.
- Agnes, Flavia. (2011). The concubine and notions of constitutional justice. *Economic and Political Weekly*, 46(24), 31.
- Agnes, Flavia and Audrey D'Mello (2015). Protection of women from domestic violence. *Economic and Political Weekly*, 50(44), 76-84.
- Chandra, Sudhir (1998). *Enslaved daughters*. New Delhi: Oxford University Press.
- Choudhary, Amit Anand (2015). Supreme Court upholds maintenance for live-in partners. *Times of India*, 6 May 2015. Retrieved from <http://timesofindia.indiatimes.com/india/Supreme-Court-upholds-maintenance-for-live-in-partners/articleshow/47169351.cms> (देखा 30 सितंबर 2016).
- Clark, Liat (2016). Suicide is number one cause of death among young women in India. *WIRED*, 27 March 2016. Retrieved from <http://www.wired.co.uk/news/archive/2013-03/27/suicide-women-india> (देखा 30 सितंबर 2016).

- Derrett, D.J.M. (1999). *Religion, law and the state in India*. New Delhi: Oxford University Press.
- Government of India (1974). *Towards equality: Report of the Committee on Status of Women in India*. Retrieved from <http://feministlawarchives.pldindia.org/category/towards-equality/towards-equality-towards-equality/> (देखा 30 सितंबर 2016).
- Lateef, S. (1994). Defining women through legislation. In Z. Hasan (ed.), *Forging identities: Gender, communities and the state*. New Delhi: Kali for Women.
- Mensky, W. (2003). *Hindu law beyond tradition and modernity*. New Delhi: Oxford University Press.
- Parashar, A. (1992). *Women and family law reform in India*. New Delhi: SAGE Publications.
- Saha, Devanik (2016). India has 12 million married children under age ten. *The Wire*, 1 June 2016. Retrieved from <http://thewire.in/2016/06/01/of-12-millionmarried-children-under-age-ten-84-are-hindus-39885/> (देखा 30 सितंबर 2016).